□□□□□□□ □□□□□□□

जनसत्ता 05 जुलाई, 2014 : यहां दिल्ली में बभनान नाम के अपने कस्बे की याद आने की कोई वजह नहीं समझ आती। आखिर उस उनींदे-से कस्बे और दिल्ली में सिर्फ एक दशक नहीं, बल्कि जिंदगियों का फासला है। एक ऐसा फासला, जिसे खत्म कर देने का वादा न जाने कितने हुक्मरानों की तकरीरों में अवाम की तालियों का सबब बनता है, पर तालियों का सबब बन कर ही रह जाता है। यों भी, अतीत और भविष्य के बीच पुल नहीं बनते, सिर्फ पुल बनाने के वादे करने वालों की तकदीर बनती है। एक ऐसी तकदीर, जिसमें दिल्ली की लगातार और ऊंची होती जाती इमारतों के बरक्स हिंदुस्तान के तमाम कस्बों के बाशिंदों के चेहरों पर दिल्ली चले जाने की नाकाम ख्वाहिशों की वजह से उतरती उदासी और तारी होती जाती है।

ऐसा नहीं कि इन कस्बों ने यह फासला तय करने की कोशिशें नहीं कीं। उन्होंने हुक्मरानों के वादों पर यकीन किया। जब हुक्म हुआ तो अपने बच्चों को जलावतन किया कि जाओ, गोरखपुर, इलाहाबाद, बनारस! पढ़ो, आइएएस की तैयारी करो! अपने बच्चों को दिल्ली भेज पाने की हिम्मत उनकी तब भी नहीं हुई थी। उन्हें समझ आता था कि अंगरेजी बोलने वाला, हुक्मरानों की बसाहटों वाला यह शहर उनके बच्चों की जद से बाहर है। बस उन्होंने अपने बच्चों को इन तमाम शहरों के लिए रवाना किया और खुद एक मुतमइन-सी नींद में सो गए कि अब तो बच्चे चांद-सितारे छूकर नहीं, बल्कि हाथों में लेकर लौटेंगे। उन्हें क्या मालूम था कि हुक्मरान खुद जहां नहीं पहुंचते, वहां अपनी जुबान और अपने कारिंदे भेज देते हैं। तो उन्होंने भेजी, अंगरेजी नाम की अपनी जुबान और उसे तामील कराने के लिए अपने हरकारे। अब बेचारे कस्बाई बच्चे क्या जानते थे कि उनका मुकाबला ऐसे लोगों से है जो एक अलहदा जुबान को तमाम ज्ञान का अलंबरदार समझते थे।

लेकिन सपनों का पीछा करती इस पीढ़ी को जिंदगी के सच बेच आने में वक्त ही कितना लगना था! वह भी उस देश में जिसके हुक्मरान 'मुक्ति' के, आजादी के सपने को 'मुक्त अर्थव्यवस्था' की तल्ख हकीकतों तक ले आए थे। उस देश में, जिसके विकास का मतलब सिर्फ महानगरों, राजधानियों का विकास होना था और इस विकास का रास्ता कम से कम चार सदी पुराने हरसूद जैसे कस्बों की जलसमाधि से होकर ही गुजरता था। अब वे दिन बहुत पीछे छूट गए थे, जब भाखड़ा नांगल से लेकर हीराकुंड तक विकास की कीमत सिर्फ आदिवासियों को चुकानी होती थी। यों, इन कस्बों के अपने 'आदिवासी' भी थे। ज्यादातर दलित-शोषित तबकों से आने वाली इस आबादी के लिए सपने देखना भी बड़ा मुश्किल काम था, क्योंकि हकीकत खरीदने की खातिर उनके पास बेचने को कुछ था ही नहीं। इस नए बनते 'इंडिया' की तो छोड़िए, वे तो भारत से भी बाहर कर दिए गए लोग थे।

ये इंडिया के हिंदुस्तान पर भारी पड़ते जाने के दिन थे और इन दिनों में इंडिया के दायरे के बाहर खड़े हर हिंदुस्तानी के लिए लड़ाई आगे बढ़ने की नहीं, बल्कि जिंदा भर रह जाने की हो गई थी। इन हालात में इस पीढ़ी के पास सपने खरीदने के लिए पहचानें और जिंदगियां बेचने के सिवा कोई रास्ता बचा भी कहां था। जिनके पास जमीन थी, खेत थे, दुकानें थीं, वे सब बेच कर दिल्ली के सपने खरीदने की कोशिशों में लग गए। कुछ सफल हुए पर ज्यादातर आइएएस से लेकर प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापक तक कुछ भी बन जाने की जद्दोजहद में बूढ़े, नाराज और उदास होते रहे। आखिर बहिष्कृत भी।

यही उदासी हमारे समय के कस्बों का शोकगीत है। अपनी पहचानें, स्मृतियां और जड़ें खो रहे उन लोगों का शोकगीत का जिन्हें हमारे आजाद और लोकतांत्रिक देश के कुछ नेता इस देश के पीछे रह जाने का जिम्मेदार मानते हैं। पर यकीन करिए, इस शोकगीत की जद में हिंदुस्तान का इतना हिस्सा और इतने लोग हैं कि इससे पार पाए बिना कोई भी रास्ता इस मुल्क को तरक्की की राहों पर नहीं ले जा सकता।

फेसबुक पेज को लाइक करने के लि क्लिक करें- https://www.facebook.com/Jansatta

ट्विटर पेज पर फॉलो करने के लि क्लिक करें- https://twitter.com/Jansatta